इस प्रकार बोले स्वामी कृष्णानन्द

स्वामी कृष्णानन्द

द डिवाइन लाइफ सोसायटी
शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेश, भारत
वेबसाइट: www.swami-krishnananda.org

(विभिन्न विषयों का एक संकलन, स्वामीजी के 75वें जन्मदिन के अवसर पर 1997 में तैयार किया गया।)

प्रार्थना—शक्ति का एक निश्चित स्रोत

हमें प्रतिपल सर्वशक्तिमान के प्रति विनम्र समर्पण के भाव में होना चाहिए। कोई भी यह भ्रम न पाले कि वह राजयोगी है और इसलिए उसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं। यह एक भूल है। योगाभ्यास का यह कार्य अकेले नहीं किया जा सकता। ईश्वर की कृपा आवश्यक है। महानतम योगी विनम्र और समर्पित स्वभाव के थे। प्रार्थना चमत्कार और अद्भुत कार्य करती है; और हमारी ओर से विनम्रता का भाव हमारे लिए एक महान संबल बनेगा। हमें प्रतिदिन महान गुरु के प्रति, अपने गुरु के प्रति और उस महान सर्वशक्तिमान के प्रति जो हमारे महान हितैषी और मित्र हैं, प्रार्थनाएँ अर्पित करनी चाहिए। और जो सच्ची प्रार्थनाएँ हम ईश्वर को अर्पित करते हैं, उनसे हम उनके आशीर्वाद का आह्वान करते हैं, और ईश्वर के कार्य तत्काल होते हैं। वे हमारे लिए साधना करेंगे; वस्तुतः वे ही साधना करते हैं। अंतिम विश्लेषण में हमारी सभी क्रियाएँ ईश्वर की ही क्रियाएँ हैं। हम छोटे बच्चों की तरह हैं जो यह कल्पना करते हैं कि हम बहुत कुछ कर रहे हैं, जबकि ये सभी कार्य हमारे लिए कोई और कर रहा है।

महत्वपूर्ण शिक्षा में गुरु की भूमिका

आधुनिक शिक्षा प्रणालियों में महत्वपूर्ण (प्राणिक) शिक्षा नहीं है। हमारे पास बौद्धिक शिक्षा है, परन्तु व्यक्ति के मूल स्वभाव को प्रभावित करने वाली प्राणिक और भावनात्मक शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं है। परिणामस्वरूप व्यक्ति का मूल स्वभाव पहले जैसा ही बना रहता है, उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कॉलेज में शिक्षा पाने के बाद जीवन-दृष्टि नहीं बदलती। व्यक्ति उसके बाद भी वैसा ही रहता है। परन्तु गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में दृष्टिकोण में परिवर्तन होता था। गुरु के अधीन प्रशिक्षण की अवधि के बाद बाहर निकलने पर शिष्य एक सर्वथा भिन्न व्यक्ति बन जाता था। आज विद्यार्थी और शिक्षक के बीच कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं रहा। एक प्रकार का व्यावसायिक संबंध है, जो शिक्षा की लगभग मृत्यु ही है। वह संबंध भी अब टूटता जा रहा है। आजकल विद्यार्थी और शिक्षक के बीच कोई संबंध दिखाई ही नहीं देता। पूरा ढाँचा टूट रहा है और हमें नहीं पता कि हम किस दिशा में जा रहे हैं। परन्तु पहले के दिनों में शिक्षक विद्यार्थी के लिए पिता-समान होता था। गुरु, शिक्षक, उपदेशक या आचार्य भी एक अभिभावक होता था जिसके मन में विद्यार्थी का कल्याण रहता था। आज कौन सा प्राध्यापक अपने विद्यार्थी का कल्याण मन में रखता है?

विद्यार्थी पर शिक्षक का प्रभाव अत्यंत महत्वपूर्ण है। शिक्षक से मौखिक रूप से प्राप्त उपदेश एक बात है। शायद वह उपदेश विद्यार्थी को अन्य स्रोतों से—विद्यालयों और महाविद्यालयों में—भी मिल सकता है। परन्तु शिक्षक के प्रभाव का लाभ अन्य स्रोतों से नहीं मिल सकता। जब गुरु शिष्य से बात करते हैं, जब योग शिक्षक योग के विद्यार्थी को उपदेश देते हैं, तो गुरु या शिक्षक की आत्मा शिष्य के मन पर तत्काल प्रभाव डालती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि योग शिक्षक केवल एक साधारण व्यक्ति नहीं होता। वह हर प्रकार से असाधारण होता है। योग शिक्षक एक साधारण मानव नहीं है। वह वह है जिसने स्वयं योग प्रशिक्षण के विभिन्न चरणों से गुजरकर अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर शिक्षण की योग्यता अर्जित की है। जब तक स्वयं योगाभ्यास न किया हो, योग नहीं सिखाया जा सकता। एक किताब पढ़कर पढ़ाना आरंभ करना न तो संभव है और न ही उचित। योग की स्वयं की साधना ही योग

शिक्षक की शक्ति है, जो उसे विद्यार्थी के साथ प्राणिक रूप से संवाद करने का विश्वास देती है। जब ऐसा होता है, तो शिक्षक और विद्यार्थी की इच्छाशक्ति के बीच—दोनों के विचारों और विचारधाराओं में परस्पर सहमति के कारण—एक मेलजोल स्थापित होता है। विद्यार्थी सर्वथा गुरु के प्रति समर्पित हो जाता है और गुरु विद्यार्थी की आत्मा के कल्याण का—केवल उसकी बुद्धि का नहीं—उत्तरदायित्व लेता है। यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है जो योग के विद्यार्थी को मन-नियंत्रण के अभ्यास में सहायता करता है।

तपस क्या है

इन्द्रियों की दिशा में मन की चेष्टा को रोकना ही तपस या तपश्चर्या है। तपस एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है ऊष्मा। इन्द्रियों और मन के संयम द्वारा हमारे तंत्र में शक्ति या ऊर्जा की ऊष्मा उत्पन्न और वर्धित होती है। जब ऊर्जा रिसती है तो हम शीतल हो जाते हैं। जब कोई मरने वाला होता है, उसके पैर ठंडे हो जाते हैं, हाथ ठंडे हो जाते हैं, शरीर ठंडा पड़ जाता है, रक्त-प्रवाह सिमट जाता है, और मन की शक्ति भिन्न दिशा में जाने के कारण प्राण भीतर खिंच जाते हैं। भौतिक शरीर में ऊर्जा की अनुपस्थिति उसे शीतल अनुभव कराती है। तपस की ऊष्मा के अभाव में हम हर प्रकार से शीतल हो जाते हैं। तपस की ऊष्मा विद्युत ऊर्जा जैसी है। यह नहीं कहा जा सकता कि विद्युत धारा गर्म होती है, यद्यपि वही धारा एक विशेष प्रकार से प्रवाहित होने पर ऊष्मा उत्पन्न कर सकती है। विद्युत ऊर्जा स्वयं में न गर्म होती है, न ठंडी। उसके ऐसे कोई लक्षण नहीं हैं। परन्तु यह एक ऐसी ऊर्जा है जो कुछ भी बन सकती है। यह गर्म कर सकती है, चला सकती है, उठा सकती है, लगभग सब कुछ कर सकती है। इसी प्रकार तपस या तपश्चर्या के अभ्यास से हम जो ऊष्मा या ऊर्जा संचित करते हैं, वह एक ऐसी निर्वैयक्तिक ऊर्जा है जिसे न गर्म कहा जा सकता है, न ठंडा, न कोई अन्य विशेषता दी जा सकती है—यद्यपि इस ऊर्जा का उपयोग जीवन के विविध प्रयोजनों के लिए किया जा सकता है। सबसे बढ़कर, यह ऊर्जा मन की एकाग्रता के लिए आवश्यक है, क्योंकि योग और कुछ नहीं, केवल मन की एकाग्रता और चेतना का ध्यान है। व्यक्ति का समग्र अस्तित्व—उसका समस्त मन, बुद्धि, भावना और आत्मा—इस योग के परम लक्ष्य की ओर प्रवाहित होनी चाहिए।

अब, यदि विद्युत परिपथ में किसी बिंदु पर रिसाव हो, तो वोल्टेज गिर जाएगा। विद्युत अभियंता कहेगा, 'कहीं रिसाव है, इसलिए वोल्टेज गिर गई।' यही हमारे साथ भी हो सकता है। जब इन्द्रियों के किसी मार्ग से ऊर्जा का रिसाव होता है, तो हमारी ऊर्जा की वोल्टेज गिर जाती है। इसलिए बाह्य विषयों से शारीरिक, वाचिक, इन्द्रिय और मानसिक विरति द्वारा व्यक्ति अपनी ऊर्जा संचित कर सकता है। ऐसा करने से व्यक्ति न केवल शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ होता है, बल्कि बलशाली भी बनता है। जो तपस करता है, उसमें उस व्यक्ति की तुलना में अधिक शक्ति होती है जो तपस नहीं करता और जीवन की अनेक गतिविधियों में भोग-विलास से अपनी शक्ति नष्ट करता है। स्वामी शिवानन्दजी महाराज कहते थे—'तपस और कुछ नहीं, इन्द्रिय-संयम द्वारा ऊर्जा की ऊष्मा से अग्नि की भाँति दहकना है।' जो तपस करता है, उसके मुख पर तेज होता है, नेत्रों में कान्ति होती है, व्यक्तित्व में आभामंडल होता है, वाणी में बल होता है और शरीर में क्षमता होती है। उसके प्रत्येक शब्द में अपार शक्ति होगी और वह विश्वास उत्पन्न करेगा। तपस के बिना वही शब्द एक शीतल शब्द होगा जो किसी के कानों में नहीं पड़ेगा। तपस सम्पूर्ण व्यक्तित्व की तपश्चर्या है—शरीर, वाणी, इन्द्रिय और मन की। तपस नियमों या नियमाओं में से एक है।

अपनी आध्यात्मिकता की परीक्षा कैसे करें

संपर्क शारीरिक या मानसिक हो सकते हैं। आत्मा की खोज में इन सभी से बचना चाहिए। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक संपर्क शारीरिक संपर्क से अधिक खतरनाक हैं। मन ही उपद्रव करता है। किसी इन्द्रिय-विषय का मानसिक चिंतन, शरीर के शरीर से शारीरिक संपर्क से अधिक हानिकारक है। यदि मन काम नहीं कर रहा, तो शारीरिक संपर्क का कोई अर्थ नहीं। इसलिए सभी मानसिक संपर्कों को विषयों से हटा लेना चाहिए। इन्द्रियों और मन की इस विरति में यदि आप अपने सभी तनावों का विमोचन अनुभव कर सकते हैं; यदि अपने जीवन के एकांत में अपने अस्तित्व की गहराई में उतरकर आप एक ऐसी मुक्ति और आनंद अनुभव कर सकते हैं जिसे संसार नहीं जानता—तो आप सच्चा आध्यात्मिक जीवन जी रहे हैं। यदि कोई आपको नहीं देख रहा और आप प्रसन्न हैं, तो यह आपकी आध्यात्मिकता की कसौटी होगी। और

यदि कोई न देखे तो आप मछली की तरह पानी से बाहर तड़पते हैं, तो यह उसके विपरीत होगा।

क्योंकि आत्मा एकाकी है—वह किसी को नहीं चाहती और संसार में किसी की सहायता नहीं चाहती। वह इतनी परिपूर्ण और पूर्ण है कि उसके समक्ष विषयों की बहुलता से उसकी सत्ता में कुछ भी जोड़ा नहीं जा सकता। उसके सामने संपूर्ण ब्रह्मांड शून्य है। जैसे गणित में शून्यों की श्रृंखला से पहले एक अंक होता है—बिना उस अंक के सभी शून्यों का कोई मूल्य नहीं—यहाँ वह अंक आत्मा है। वह एक हो सकती है, परन्तु यदि यह एक अंक नहीं है, तो केवल शून्य ही बचेंगे!

कर्मकांड किसका प्रतीक है?

एक कर्मकांड या अनुष्ठान एक दृष्टिकोण, एक आचरण का प्रतिनिधित्व करता है, जो बाहरी कर्म में अभिव्यक्त होता है। हम एक पत्ता अर्पित कर सकते हैं या एक पत्थर के टुकड़े पर जल चढ़ा सकते हैं—उस पत्थर को अपना ईश्वर मानकर। यहीं से धर्म आरंभ होता है। पत्थर ईश्वर नहीं है, परन्तु उसमें किसी उच्च शक्ति की उपस्थिति की हमारी अनुभूति ही हमारा ईश्वर है। धर्म के मनोवैज्ञानिक पहलू होते हैं—ये कर्मकांड विभिन्न रूपों में जैसे मंदिरों और गिरजाघरों में दिखाई देते हैं। भक्त घुटने टेकता है; ऊपर देखता है; हाथ जोड़ता है; सिर झुकाता है और ईश्वर के प्रति गहरी प्रेम और पीड़ा भरी भक्ति के शब्दों में हृदय की गहराई से निकली प्रार्थना करता है। यह वह कर्मकांड-पूजा, अर्पण और संस्कारों के माध्यम से करता है।

कर्म और ज्ञान का मार्ग

समस्त कर्म अपूर्ण व्यक्ति की दोषपूर्ण प्रकृति की अभिव्यक्ति है। कोई अप्राप्त लक्ष्य पाने का साधन बनने वाला कर्म, परम पूर्णता के साथ असंगत है। कर्म किसी वस्तु का मूलभूत स्वभाव नहीं है; यह उन भ्रामक आवरणों का आंदोलन है जिनसे वस्तुएँ ढकी हुई हैं। कर्म की दिशा बदली जा सकती है, परन्तु आत्मज्ञान सदा अपरिवर्तनीय है। कर्म सापेक्ष है; ज्ञान परम है। कर्म व्यक्ति-कर्ता पर निर्भर है; ज्ञान व्यक्ति से स्वतंत्र है और केवल अपरिवर्तनीय वस्तु—ब्रह्म—पर आधारित है, जिसके साथ वह एकरूप है। ज्ञान उत्पत्ति, प्राप्ति, शुद्धि या रूपांतरण

की प्रक्रिया के अधीन नहीं है, जैसा कि कर्म और उसके फल होते हैं। किसी कर्म के पश्चात कुछ जानने या पाने की आवश्यकता रहती है; परन्तु ज्ञान की प्राप्ति के बाद न कुछ करना बाकी रहता है, न कुछ और पाना। कर्म किसी बाहरी वस्तु की ओर प्रेरित करने की प्रकृति का है; परन्तु ज्ञान स्वयं प्रकाश है जो एक साथ संसार के बंधन का विनाश और परमसत्ता की पूर्णता का अनुभव है। ज्ञानमार्ग—क्योंकि यह साधन और साध्य के एक में मिलन का लक्ष्य रखता है—जो आवश्यक योग्यताओं से संपन्न नहीं हैं उनके लिए अत्यंत कठिन है। इस कठिनाई को 'क्षुरस्य धारा', 'पथविहीन पथ' जैसे संदर्भों में स्पष्ट किया गया है, जो दर्शाते हैं कि ज्ञान का अपना अनूठा मार्ग है जो इन्द्रियों से पोषित मन और बुद्धि को ज्ञात नहीं है। 'ज्ञानियों का मार्ग अनुरेखणीय नहीं है—जैसे आकाश में पक्षियों की और जल में जलचरों की गति।' केवल जो गहरी अंतर्दृष्टि रखते हैं और पूर्णतः विरक्त हैं वही ज्ञानमार्ग पर चल सकते हैं।

शारीरिक आसन के माध्यम से आध्यात्मिकता

योगासनों का एक आध्यात्मिक अर्थ है। यदि केवल एक अन्य शारीरिक व्यायाम प्रणाली के रूप में देखा जाए, तो योगासन आध्यात्मिकता से जुड़े नहीं लगते। परन्तु वास्तव में योग से जुड़ी प्रत्येक वस्तु किसी न किसी प्रकार से अंततः आत्मा के उद्देश्य से संबंधित है। यह भारतीय संस्कृति की विशेषता है। प्रत्येक वस्तु का आत्मा से कोई न कोई संबंध है—छोटे से छोटे पूजा-कर्मकांड का भी, और आराधना, अध्ययन या अभ्यास के सबसे छोटे संकेत का भी। क्योंकि भारतीय संस्कृति के सामने एक महान लक्ष्य है—प्रत्येक क्रिया को आध्यात्मिक बनाना—और इस दृष्टि में संसार का कोई भी कार्य आत्मा के तत्व से रहित नहीं होना चाहिए। इसलिए आसन भी एक आध्यात्मिक अभ्यास है, यद्यपि यह समझना सहज नहीं कि एक शारीरिक व्यायाम को आध्यात्मिक कैसे माना जाए। आसन आध्यात्मिक है—अपने अभ्यास के पीछे की मंशा के कारण, जिस उद्देश्य से किया जाता है उसके कारण, और विशेषतः मन पर जो प्रभाव उत्पन्न करता है उसके कारण। हठयोग प्रणाली में अनेक आसनों का विवरण है—मुख्यतः चौरासी—जो शरीर के विभिन्न अंगों में लचीलापन लाने का लक्ष्य रखते हैं, ताकि शरीर का कोई अंग या अवयव अनुचित दबाव डालकर पीड़ा, दर्द या असुविधा न

उत्पन्न करे। शरीर के हमें नियंत्रित करने के बजाय हमें उसे नियंत्रित करना है। सामान्यतः शरीर हमें नियंत्रित करता है, क्योंकि उसकी अपनी प्रवृत्तियाँ और पसंद-नापसंद होती हैं। शरीर तब कष्ट देता है जब हम उसकी आवश्यकताओं के अनुसार उसकी देखभाल नहीं करते। परन्तु यदि शरीर के कार्यों पर हमारा कुछ संयम और नियंत्रण हो, तो यह हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल हो जाता है—विशेषकर जब हम जप या ध्यान के लिए लंबे समय तक बैठना चाहते हों।

योगाभ्यास में व्यक्तिगत समस्याएँ

चिंता और शोक योग के अभ्यास में एक बाधा हैं। दुर्भाग्यवश जीवन सदा दुखों से घिरा रहता है और यदि हम हर प्रकार की पीड़ा से मुक्त किसी व्यक्ति को खोजें, तो शायद नहीं मिलेगा। फिर भी, यदि मानसिक तनाव व्यक्ति का पीछा कुत्ते की तरह करता रहे, तो योग सफल नहीं हो सकता। प्रत्याहार, धारणा या ध्यान के किसी भी प्रयास से पहले व्यक्ति के लिए संसार की इन कष्टप्रद शक्तियों से मुक्त होना आवश्यक है। और विद्यार्थी इस स्थिति की दृष्टि से समझ सकता है कि मन को संतुलित रखने के लिए मार्ग पर कितना प्रयास आवश्यक है—क्योंकि संतुलन ही योग कहा जाता है। जीवन के किसी कारण से संतुलन बिगड़ने पर ही चिंता उत्पन्न होती है। अतः योग का पहला चरण प्रत्याहार या धारणा नहीं है, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक मुक्ति है—जैसे व्यापारी अपनी हिसाब-किताब की जाँच करते हैं, उसी प्रकार आंतरिक जगत की बैलेंस-शीट बनाना है। व्यक्ति को यह जानना होगा कि वह कहाँ खड़ा है। यदि पीड़ा अंदर तक खाती हो तो एकाग्रता या ध्यान कैसे होगा? आर्थिक परिस्थितियों, सामाजिक हालात, पारिवारिक स्थितियों तथा व्यक्तिगत स्वास्थ्य और मानसिक स्थिरता से उत्पन्न अनेक समस्याएँ हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। मान लें कि विद्यार्थी किसी से बहुत नाराज है—क्या वह उस समय एकाग्रता के लिए बैठ सकेगा? नहीं। क्योंकि मन पहले से किसी और में लगा है और एकाग्रता के लिए तैयार नहीं। उसे पहले से कोई कार्य दिया गया है और वह उन नकारात्मक परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाने की कोशिश कर रहा है जो उस पर थोपी गई हैं। योग एक सकारात्मक अवस्था है, दिन के सभी मनोभावों से भिन्न। योग-जीवन में कुछ भी नकारात्मक नहीं है—न मन में, न दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में। योग के प्रति संशय उसके अर्थ

की उचित समझ के अभाव से उत्पन्न होते हैं। सभी पीड़ाओं को दूर करना है। यह कैसे किया जाए—यह एक व्यक्तिगत समस्या है, जिसका उत्तर व्यक्ति-दर-व्यक्ति भिन्न होने के कारण व्यक्तिगत विचार से ही मिलेगा।

आध्यात्मिक जीवन में निरंतर सतर्कता आवश्यक है

व्यक्तिगत, सीमित और स्वार्थी जीवन के प्रति प्रेम को प्रायः नाम, यश, शक्ति, धन और काम की विनाशकारी इच्छाओं द्वारा; शरीर की तानाशाही माँगों द्वारा; सम्मान, पूजा, उत्कर्ष, प्रशंसा और प्रभुत्व की लालसा द्वारा; तथा वस्तुनिष्ठ संसार से जुड़ी महत्वाकांक्षाओं द्वारा—चाहे वे कितनी भी परिष्कृत और शालीन रूप धारण किए हों—गलत तरीके से उचित ठहराया जाता है। यहाँ तक कि अत्यधिक विद्वता या पांडित्य की लालसा भी आध्यात्मिक साधक के लिए एक बाधा है। इन सभी बाधाओं को लाँघना है; सभी इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं और जिज्ञासाओं को उनकी कली में ही नोंच डालना है। साधक जितना सावधान और विवेकशील होगा, उतना ही अपनी बुद्धि को तीव्र और गहरा करने का प्रयास करना चाहिए। अपनी सतर्कता और सक्रिय चेतना की आवश्यकता की कोई सीमा नहीं है। यहाँ तक कि स्वर्ग के प्रवेशद्वार पर भी नरक की ओर जाने वाला मार्ग हो सकता है। नाव दूसरे किनारे के निकट भी डूब सकती है।

योग साधना में रचनात्मक भावनाओं की भूमिका

ईश्वर की हमारी अवधारणा पूर्णतः तार्किक नहीं है। वह भावनात्मक भी है। और इसलिए जब हम किसी भी बिंदु पर एकाग्रता करते हैं और इस उद्देश्य के लिए कोई विषय चुनते हैं, तो देखना होगा कि वह भावनात्मक रूप से हमारे अनुकूल है या नहीं। उदाहरण के लिए, हम एक साँप को सामने रखकर उस पर ध्यान नहीं कर सकते, यद्यपि एकाग्रता के उद्देश्य से वह भी उतना ही उपयुक्त है जितना कोई अन्य विषय। परन्तु भावनात्मक रूप से एक कोबरा को सामने बैठा कल्पित करने से हम सहज नहीं होंगे। किसी ऐसे विषय का चुनाव करें जो अपनी पसंद के कारण भावनात्मक रूप से जुड़ा हो, तो मन तत्काल एकाग्र होगा। यह सच है कि ध्यान के विषय के प्रति भावनात्मक रूप

से सहमत होना आवश्यक है, साथ ही यह भी देखना है कि ध्यान करते समय किस प्रकार की भावना जागती है। भावनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। विद्रोही, उग्र और अशिष्ट भाव भी भावना की एक अवस्था है। परन्तु यह वह भावना नहीं है जिसकी बात हम करते हैं। विद्रोही भावनाएँ विकर्षक होती हैं, ये स्वस्थ भावनाएँ नहीं हैं। ये हमारे व्यक्तित्व को टुकड़ों में बिखेर देती हैं। परन्तु रचनात्मक भावनाएँ हमारे व्यक्तित्व के अंगों को एक पूर्णता में जोड़ती हैं और हम स्वयंकेंद्रित व्यक्ति की तुलना में अधिक उज्ज्वल और सुंदर बन जाते हैं। जब हम भ्रूभंग करते हैं—भावना है। जब मुस्कुराते हैं—फिर भावना है। परन्तु दोनों भिन्न प्रकार की हैं। इसी प्रकार निष्ठुरता और करुणा—दोनों भावनाएँ हैं, परन्तु भिन्न प्रकार की।

इसीलिए अनेक योग-गुरु और आचार्य हमें बताते हैं कि मन पर अनभ्यस्त विचारों और भावनाओं को थोपकर अनावश्यक संघर्ष करने के बजाय ईश्वर के नाम का कीर्तन करना लाभप्रद है। प्रत्येक व्यक्ति की ईश्वर की अपनी अवधारणा होती है। उसे निश्चित रूप से लगता है कि उसकी ईश्वर की अवधारणा सर्वश्रेष्ठ विचार है। वहाँ उसकी भावनाएँ एकत्रित हो जाती हैं और तर्क भी मैत्रीपूर्ण ढंग से काम करता है। इसलिए ईश्वर के नाम का जप, मंत्र के अर्थ पर एकाग्रता—यही मन को एकाग्रता के बिंदु पर लाने की सर्वश्रेष्ठ विधि मानी जाती है। जप और ईश्वर के दिव्य नाम का कीर्तन एकाग्रता की एक धार्मिक तकनीक है।

मन को उच्च विचारों की ओर मोड़ना

योग का अर्थ सदा बंद आँखों से ध्यान नहीं है। इसमें ऐसी अनेक बातें शामिल हैं जो अंततः उसमें सहायक होती हैं। थोड़ा अध्ययन भी बहुत आवश्यक है। संभवतः इसे सदा एक आवश्यक दिनचर्या के रूप में बनाए रखना पड़े। मन को उच्च विचारों की ओर प्रेरित करने के लिए किसी योग-ग्रंथ का थोड़ा-बहुत पाठ आवश्यक हो सकता है। अन्यथा हम सदा श्रेष्ठ विचार नहीं सोच सकते। दिनभर मन में ईश्वर के उदात्त विचार सदा बनाए रखना सहज नहीं। इसलिए मन को इस उदात्त चिंतन की आदत से परिचित कराने के लिए अभ्यास के विभिन्न उपाय अपनाते हैं। अच्छे मित्रों के साथ चर्चा एक सहायक और गौण सत्संग

है। महान गुरुओं, अवतारों, पैगंबरों और दिव्य विभूतियों द्वारा दिए गए योग के महान ग्रंथों का अध्ययन भी सहायक है।

मानवीय परिस्थिति

प्रायः प्रतिदिन जो प्रश्न ध्यान में आता है वह है—संसार में 'मानवीय परिस्थिति' से कैसे निपटा जाए। मनुष्य की परिस्थितियाँ उसके कर्मों और उसके भविष्य के कर्मों से गहराई से जुड़ी हैं। और उसके लिए यह निर्णय करना सहज नहीं कि उसके लिए सर्वश्रेष्ठ क्या है।

अधिकांश लोग इस गलत धारणा के कारण दुखी होते हैं कि 'स्वयं को थोपने' से सफलता मिलती है। सत्य इसके ठीक विपरीत है। अहंकारी आग्रह से सफलता मिलती है—यह गलत धारणा इस सत्य की अनजानी पर आधारित है कि संसार में अन्य लोग भी उतनी ही दृढ़ता से अपना आग्रह कर सकते हैं। जिसने भी अहंकार के साथ 'दूसरों' का सामना किया, वह कभी सफल नहीं हुआ। सभी अहंकार का सामना बाहर से उतने ही दृढ़ अहंकार से होता है। कर्म, तर्क या भावना में सदा अपना दृष्टिकोण लेना 'विरोध' को आमंत्रित करना है, जबकि जीवन का नियम 'सहयोग' है। स्व-आग्रह इस प्रकार प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है और अंततः पराजित होगा। मन, वाणी या शरीर में सभी अहंकारी कार्य, संसार के अन्य शक्ति-केंद्रों से समान प्रतिक्रिया जगाते हैं—और ऐसी दशा में जीना ही संसार है, जिसमें निरंतर संघर्षरत तत्व परस्पर प्रतिक्रिया करते हैं और अशांति व पीड़ा उत्पन्न करते हैं। संसार का उपाय है—दूसरों के अस्तित्व और भावनाओं की 'सराहना' की कला, जो सृष्टि की योजना में समान मान्यता की माँग करते हैं। जब भी कुछ कहें या करें, उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से आरंभ करें जो सामने है, जो आपकी बात सुनता है या आपके कार्य से प्रभावित होता है। तब आप किसी भी अन्य उपाय की तुलना में अधिक सफल होंगे।

काल और अंतरिक्ष

अंतरिक्ष और काल के अनुभव की प्रकृति इस बात पर निर्भर करती है कि चेतना किस रूप में वस्तुनिष्ठ रूप से ढलती है। जो अवसाद में हैं या गहरे दुख में हैं, उन्हें एक क्षण एक वर्ष जैसा लगता है; जबकि आनंद में डूबे लोगों को उसका विपरीत अनुभव होता है। अंतरिक्ष और

काल अंततः चेतना की अवस्थाएँ हैं और उससे स्वतंत्र नहीं हैं। स्वप्न-अवस्था में एक क्षण में हजारों वर्षों के अनुभव हो सकते हैं, जबकि उसी अवस्था में मन एक क्षण के अनुभव को कई वर्षों के इतिहास में प्रसारित भी कर सकता है। गहन आध्यात्मिक ध्यान और समाधि की अवस्था में अंतरिक्ष और काल का अतिक्रमण हो जाता है और केवल शुद्ध चेतना प्रकट होती है। इस चेतना में संपूर्ण ब्रह्मांडीय चक्र एक क्षण के करोड़वें भाग में प्रकट और अप्रकट होता है।

सेवा का सार

दूसरों के प्रति उदार भाव सेवा का सार है। भावना की उदारता सर्वोच्च दान है। कुछ डॉलर का दान आवश्यक रूप से दान नहीं है। यह तो केवल बाहरी लोगों के महत्व की अपनी आंतरिक स्वीकृति की बाहरी अभिव्यक्ति है। संसार की सभी वस्तुओं में महान आध्यात्मिक मूल्य की खोज ही सेवामय जीवन-दृष्टि का सार है। हम इसलिए नहीं सेवा करते कि वे हमसे कमतर हैं या भिखारी हैं। सेवा इसलिए होती है क्योंकि जो महान आकांक्षा हमारे हृदय में स्पंदित है, वही अन्य हृदयों में भी विद्यमान है। सामाजिक परिस्थितियों ने अन्य लोगों को जैसा बना दिया हो, वह उनका मूलभूत स्वरूप नहीं है। उदार भावना—जो सेवा का सार है—सभी वस्तुओं में दिव्यता की पहचान से उत्पन्न होती है, न कि इस खोज से कि दूसरे बेचारे हैं, सड़क के भिखारी हैं। निःस्वार्थ सेवा में श्रेष्ठता का भाव नहीं होता। सेवा करने से हम महत्वपूर्ण नहीं बन जाते। ऐसा समझना एक भूल होगी। संभवतः जो सर्वोच्च सेवा करने में सक्षम है वह स्वयं को सबसे विनम्र मानता है।

चिल्लाओ मत—'मैं योग का विद्यार्थी हूँ!'

मन की इच्छाएँ और व्यक्तित्व की सामान्य प्रवृत्तियाँ बाहरी प्रकृति की वे गतिविधियाँ हैं जो योग में हमारा ध्यान खींचती हैं। हम इस बाह्य प्रकृति के प्रवाह में बह सकते हैं या उसका विरोध कर सकते हैं। योग हमें बहुत सावधान रहने और एक मध्यम मार्ग अपनाने को कहता है। न पूरी तरह प्रकृति के प्रवाह में बहना है, न सीधे उसका विरोध करना है। दोनों अतिवाद अनुचित हैं, क्योंकि वे हमें तत्काल प्रकृति की नजर में ला देंगे। आकर्षण का केंद्र बनने से बेहतर है अनदेखे रहना; क्योंकि

आकर्षण का केंद्र हमेशा किसी न किसी परेशानी में पड़ता है, जबकि अनदेखा व्यक्ति किसी न किसी प्रकार जीवन में सुखपूर्वक आगे बढ़ता रहता है। इसलिए योगाभ्यास में भी विद्यार्थी को प्रकृति की गतिविधियों के बीच अनदेखे रहकर जीना चाहिए—'मैं योग का विद्यार्थी हूँ!'—यह चिल्लाकर उसे अचानक अपनी गतिविधियों का सजग नहीं करना चाहिए। प्रकृति को इस प्रकार की पुकारें पसंद नहीं। प्रकृति की प्रतिक्रियाएँ यदि प्रबल हों, तो अभ्यास का उलटा प्रभाव हो सकता है।

प्रकृति की गतिविधियाँ अंतरिक्ष और काल में बाह्य होने के कारण, और हम प्रकृति का अंग होने के कारण, हम स्वतः उन गतिविधियों में सम्मिलित हो जाते हैं। अपनी बाहरी प्रवृत्तियों को सहज दबाया नहीं जा सकता। उन्हें केवल धीरे-धीरे नियंत्रित किया जा सकता है। इसलिए पतंजलि की प्रणाली में योग के चरण क्रमिक हैं।

क्या आश्रम में प्रवेश करना चाहते हैं?

साधक का किसी मठ या पवित्र एकांत स्थान में प्रवेश वास्तव में उसके कष्टों का आरंभ है। स्वेच्छा से ली गई तपश्चर्या और उस जीवन के वातावरण द्वारा बाहर से आरोपित अनुशासन साधक के आंतरिक स्वभाव की खान में छिपे सोने और खजाने को खोदने का प्रयास करते हैं। परन्तु खुदाई से बहुत धूल भी उठती है जो आँखों को अंधा कर सकती है, और खजाने के साथ-साथ कठोर पत्थर और चुभते काँटे भी मिल सकते हैं। आध्यात्मिक प्रेरणा अचानक क्षीण हो सकती है, विविधता के आसक्ति पर जोर देने वाली शक्तियों द्वारा उठाई धूल में मलिन होकर। यह कभी-कभी हृदय में प्रतिष्ठित परमात्मा के सूर्य की चमक को भी ढक देती है। धार्मिक उत्साह और मुक्ति की तीव्र लालसा के बाद—जिससे साधक किसी मठ में जाता है या किसी गुरु के निकट स्थान पाता है—तत्काल आलस्य, जड़ता, उदासीनता, भूख और नींद की अवस्था आ सकती है। और फिर उठ सकती है इंद्रिय-भोग की अदम्य इच्छा—वही जो वर्षों पहले वैराग्य के आवेग में अवांछित लगती थी। साधक के महानतम शत्रु हैं—धन, काम, यश और क्रोध। हमेशा तमस और रजस का अंतर्खेल रहता है साधक के मन में। आध्यात्मिक साधक—सावधान! यह पथ गुलाबों की सेज या दूध और शहद नहीं है। यह सच में क्षुर की धार है!

परम सत्ता की महिमा

परम सत्ता की महिमा सभी महिमाओं से परे है। यह सत्य और गौरव की सर्वोच्च इमारत है। उससे परे कुछ नहीं। वह न रूप है, न विषय-वस्तु, न विस्तार। आत्मा सर्वपूर्णता के अनुभव में उसमें डूब जाती है—न सार, न राज्य, न ज्ञान; न समान, न असमान; न स्थिर, न गतिशील; न बैठा, न विश्राम में; न एक, न दो; न सत्य, न असत्य; न यह, न वह; हमें ज्ञात कुछ नहीं, किसी अस्तित्व को ज्ञात कुछ नहीं। उसका कोई नाम नहीं, उसकी कोई परिभाषा नहीं! वह 'जो है' है। वह प्रेम नहीं, कृपा नहीं, संसार नहीं, आत्मा नहीं, ईश्वर नहीं, स्वतंत्रता नहीं, प्रकाश नहीं—क्योंकि ये सब सापेक्ष कल्पनाएँ हैं। वह सच्चिदानन्द भी नहीं, जो केवल एक आदर्श 'अन्य' है जिसे हम यहाँ अनुभव करते हैं। सच्चिदानन्द केवल तार्किक सर्वोच्च है, एक मात्र बौद्धिक आधार। सत्य सच्चिदानन्द से भी परे है। वह स्वयं है—परम आकाश में चमकता शाश्वत सूर्य! वह ब्रह्माण्डीय चेतना से परे है। वह अति-सारभूत सार है। अनंतता और अनादिता परस्पर आलिंगन करके उसके अनुभव का केंद्र बनाती हैं। यह एक ऐसा सागर है जो पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल को बहा ले जाता है। सूर्य, चंद्र और तारे उसमें विलीन हो जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसमें समा जाते हैं। यह प्राण का प्राण, ज्ञान का ज्ञान, आनंद का आनंद, शक्ति की शक्ति, सत्य का सत्य, सार का सार है। अजन्मापन और अमरता उसमें तरंगों की तरह तैरते हैं। यह सबकी परम मृत्यु है और फिर भी वास्तविक जीवन का सर्वोच्च शिखर है।

योग-वेदांत वन अकादमी

हमने हाल ही में योग-वेदांत वन अकादमी नामक एक छोटे परिसर की स्थापना की है—केवल श्री गुरुदेव के दिव्य संदेश को अपनी स्मृति और मन में जीवंत रखने के लिए। इरादा कुछ तकनीकी, ऐतिहासिक, शैक्षणिक या दार्शनिक पढ़ाने का नहीं है। विचार बहुत सरल, बहुत विनम्र और बहुत छोटा है—यदि आप उसे महत्वहीन कहना चाहें। और इसकी महत्वहीनता इस तथ्य में है कि यह सामाजिक जनता की आँखों में किसी प्रकार के प्रचार की नहीं, बल्कि ईश्वर की महान दृष्टि में पहचाने जाने की खोज करती है। और यदि हम एक भी व्यक्ति को ईश्वर-चेतना की अवस्था तक जगाने में सफल हो सकें, तो डिवाइन लाइफ सोसायटी ने एक महान सेवा की होगी और योग-वेदांत वन

अकादमी ने अपना उद्देश्य पूरा किया होगा। हमें संख्या नहीं चाहिए, गुणवत्ता चाहिए। हम हजारों नहीं हो सकते, बहुत कम हो सकते हैं—दो सौ भी नहीं चाहिए। हमें एक चाहिए। और यदि उस एक में वह आंतरिक आत्म-बल हो जो पाँच तत्वों से, सूर्य, चंद्र और तारों से शक्ति खींचकर अपने पैरों पर खड़ा रह सके, तो श्री गुरुदेव अत्यंत प्रसन्न होंगे। संसार—अर्थात् हमारे समक्ष यह सृष्टि—ही हमारा आधार है और ईश्वर हमारा आधार है। और ईश्वर कभी मरते नहीं, वे हमसे कभी दूर नहीं हैं। यदि उनसे हमारा संबंध आध्यात्मिक हो—अर्थात् अखंड—तो उनसे आने वाली सहायता शाश्वत है।

ऐलिस इन वंडरलैंड

हमारे मन में एक जन्मजात आग्रह है जो हमें लगभग पूरी तरह जीवन के लक्ष्य को व्यावहारिक वास्तविकता के रूप में समझने से रोकता है। हमारे लिए लक्ष्य प्रायः एक अवधारणा और एक विचार बना रहता है—एक आदर्श जो कठोर दैनंदिन जीवन की वास्तविकताओं से सहज मेल नहीं खाता। लक्ष्य स्वयं ईश्वर हो सकते हैं, फिर भी वह केवल एक विचार और आदर्श, एक कल्पना, एक संभावना, एक 'हो सकता है' या 'नहीं हो सकता' बने रहते हैं।

यह संशयपूर्ण दृष्टि सबसे उन्नत व्यक्तियों में भी—इन्द्रियों की शक्ति, मन की सामर्थ्य और बुद्धि की एक निश्चित ढंग से समझने की आदत के कारण—अनुपस्थित नहीं होती। इन पाठों में हम तुलनात्मक दर्शन नामक एक विषय पर चर्चा कर रहे हैं। इस संदर्भ में शंकराचार्य जैसे वेदांतिक दार्शनिकों के अतिरिक्त कुछ अन्य विचारकों के निष्कर्षों पर भी थोड़ा विचार करना लाभप्रद होगा।

ग्रीस में प्लेटो नामक एक महान व्यक्ति थे। पॉल डॉसन के अनुसार, संसार ने केवल तीन दार्शनिक उत्पन्न किए हैं—प्लेटो, कांट और शंकर। उनके कहने में कुछ सत्य है। पॉल डॉसन कहते हैं, इन तीनों से बड़ा दार्शनिक नहीं हो सकता। मैं इस कथन पर विचार कर रहा था और अंततः लगा कि इसमें कुछ सत्य है।

परम सत्य का विचार प्लेटो का मुख्य सिद्धांत है। और मैंने प्रारंभ में यह कहा कि जब हम आध्यात्मिक जीवन जीते हैं, धार्मिक आचरण करते हैं, पूजा करते हैं और मंत्र जपते हैं, प्रार्थना करते हैं, जप करते हैं और

ध्यान भी करते हैं—तो हम विचारों की दुनिया में जी रहे होते हैं। परन्तु यह विचार एक असहज परिणाम लाता है कि सत्य अंततः एक विचार है।

विचार अमूर्त धारणाएँ हैं जो वास्तविकताओं के संगत होती हैं। जब तक विचार वास्तविकताओं के संगत हों, वे वैध हैं। मेरे सामने एक भवन है—यह एक वैध विचार है क्योंकि यह बाहर भवन के वास्तविक अस्तित्व से संगत है। मेरे विचार की वैधता उस विषय की वास्तविकता पर निर्भर है जो उसके सामने है। तो यदि परम सत्य या ईश्वर का विचार किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व पर टिका हो, तो ईश्वर एक वास्तविक सत्ता नहीं है। यह एक बहुत सूक्ष्म कठिनाई है जो ईमानदार साधकों के मन को भी परेशान कर सकती है।

ईश्वर एक विचार है जो हमारे पूर्वजों, हमारी पुस्तकों, शास्त्रों, आचार्यों और माता-पिता ने हमारे मन में डाला है। किसी न किसी प्रकार इस शिक्षा के तर्क ने हमें मानने पर विवश किया कि एक 'अन्य-लोकिक अस्तित्व' होनी चाहिए और हम किसी न किसी प्रकार इसके साथ सामंजस्य बैठा लेते हैं—ईश्वर तो होंगे ही। परन्तु हम ईश्वर के अस्तित्व को अपनी इच्छा के विरुद्ध स्वीकार कर रहे हैं। हमें भूख-प्यास लगती है और शरीर की यह भूख-प्यास ईश्वर के विचार से अधिक वास्तविक है।

प्लेटो का पूरा दर्शन एक वाक्य में है—विचार वास्तविकता से पहले हैं। यहाँ हमें वेदांत दर्शन की प्रतिध्वनि मिलती है कि भौतिक सृष्टि से पहले हिरण्यगर्भ है। पंचदशी, उपनिषद और वेदांत के अन्य मत बताते हैं कि हिरण्यगर्भ में संसार ठोस रूप में नहीं है—यह केवल ईश्वर द्वारा ब्रह्माण्डीय स्तर पर व्यक्त एक विचार है। ईश्वर, हिरण्यगर्भ से भी सूक्ष्म, ब्रह्माण्ड के होने की संभावना मात्र है। और विराट वह चेतना है जो तथाकथित भौतिक सृष्टि के पीछे जीवंत है।

विचार इसलिए वस्तुओं से पूर्व नहीं हैं क्योंकि अंतरिक्ष और काल भी उसी प्रकार वस्तुनिष्ठ संसार के पश्चात नहीं, बल्कि उससे पहले हैं। सर जेम्स जीन्स का अंतिम निष्कर्ष है कि ईश्वर एक गणितज्ञ होना चाहिए। कोई व्यक्ति गणित नहीं सोच रहा, बल्कि स्वयं गणित है। वे कहते हैं—यह एक गणितीय चेतना है, अत्यंत अमूर्त, पूर्णतः निर्वैयक्तिक, और ब्रह्माण्ड गणितीय बिंदु-घटनाओं की धारणाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं।

आधुनिक भौतिकी की इस दुनिया में, हिरण्यगर्भ और ईश्वर संस्कृत भाषा में यही तो हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जैसी कठोर वस्तुओं के वैचारिक पूर्वगामी हैं। हम समझ सकते हैं क्यों ध्यान में कठिनाई होती है, क्यों जप नहीं होता, क्यों प्रार्थना नहीं होती। हम छोटी-छोटी बातों पर क्रोधित हो जाते हैं क्योंकि हम अभी पूरी तरह आध्यात्मिक नहीं हुए हैं। धर्म अभी पूरी तरह हम में प्रवेश नहीं किया है। ये गहरे सत्य हमारे मन में सहज प्रवेश नहीं करते क्योंकि हम ईंट, मसाला, सब्जी, चाय-कॉफी में व्यस्त हैं।

मैंने ये विचार आपके सामने रखे ताकि पूर्व के महान विचारकों—जैसे आचार्य शंकर, उपनिषदों के ऋषि, और भगवद्गीता के श्रीकृष्ण—तथा पश्चिम के विचारकों—जैसे प्लेटो, अरस्तू और कांट—के बीच एक तुलना की जा सके। वे सभी एक जैसा सोचते प्रतीत होते हैं—केवल भिन्न भाषाओं में और भिन्न परिभाषाओं में।

अब हम उस बिंदु पर हैं जहाँ सच्चा धर्म आरंभ होता है। वास्तविक धर्म परम सत्ता की उपस्थिति की जागरूकता है। इसलिए ठीक कहा गया है कि धर्म वहाँ आरंभ होता है जहाँ बुद्धि समाप्त होती है, जहाँ तर्क विफल होता है। जब धर्म हमारे जीवन को नियंत्रित करने लगता है, हम केवल बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक या दार्शनिक नहीं रहते। हम केवल विचारक नहीं, बल्कि सत्य को जीने वाले बन जाते हैं।

धर्म सत्य को जीना है, न कि केवल उसके बारे में सोचना। भगवान के सामने—उनका साक्षात्कार करना ही धर्म है। यह ईश्वर-सत्ता का क्रमशः अनुमान करने का जीवन है। यहाँ सच्चा प्रेम हमारे जीवन में प्रधान होने लगता है। हम केवल दार्शनिकों या आचार्यों की तरह ईश्वर के बारे में सोचते नहीं—हम ईश्वर से प्रेम करते हैं। और हम उस वस्तु से प्रेम नहीं कर सकते जो वास्तव में वहाँ है ही नहीं।

समस्त प्रेम उस वस्तु से संपर्क करने की आत्मा की एक आकांक्षा है जिसे वह अपने सामने एक ठोस वास्तविकता के रूप में अनुभव करती है। प्रत्येक प्रेम अंततः ईश्वर-प्रेम है, और ब्रह्माण्ड का अंतिम सार प्रेम ही कहा जा सकता है।

मैं आपसे कभी-कभी कहता हूँ कि गीता के ग्यारहवें अध्याय के अंतिम शब्दों में एक गुप्त अर्थ है जब हमें बताया जाता है कि भक्ति परम है। श्रीकृष्ण यहाँ जिस भक्ति की बात करते हैं वह किसी मूर्ति के प्रति

साधारण श्रद्धा नहीं है। यह परम सत्ता के समक्ष आपके अस्तित्व का गलन है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—'न दान से, न परोपकार से, न अध्ययन से, न तपश्चर्या से वह महान दर्शन संभव है जो तुमने पाया, अर्जुन! केवल भक्ति से मैं दिखाई देता हूँ, संपर्क में आता हूँ। केवल भक्ति से मुझे जाना, देखा और मुझमें प्रवेश किया जा सकता है।' गीता के ग्यारहवें अध्याय के अंत में ये तीन शब्द हैं—जानना, देखना और प्रवेश करना। अर्जुन ने जाना और देखा, परन्तु कभी प्रवेश नहीं किया। इसलिए वह गीता के बाद भी वही अर्जुन रहे।

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—शंकर और रामानुज—वस्तुतः एक ही बात कह रहे हैं, केवल भिन्न भाषाओं में। रामानुज की भक्ति आत्मा का उफान और ईश्वर-अनुभव में व्यक्तित्व का गलन है—जैसे स्पिनोजा, रामकृष्ण परमहंस, मीराबाई और तुकाराम के जीवन में दिखती है। उनकी भक्ति साधारण पूजा नहीं थी—यह एक ऐसी समाधि थी जिसमें व्यक्तित्व ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-सत्ता में खो गया। यही ज्ञान है और यही भक्ति। इसलिए रामानुज और शंकर में अंतिम स्तर पर कोई भेद नहीं है।

जब हम अपने अध्ययन के अंतिम बिंदु पर पहुँचते हैं, तो हम धीरे-धीरे इस जिद्दी धारणा का आसक्ति छोड़ रहे हैं कि हम यह छोटे से श्री या श्रीमती शरीर हैं, भारत या अमेरिका, जापान या रूस के किसी कोने में स्थित। हम धीरे-धीरे एक बड़े आयाम के नागरिक बनने का प्रयास कर रहे हैं—इस पृथ्वी से, शायद सौर मंडल से और इस भौतिक ब्रह्माण्ड से भी बड़े। जब हम सच्चे धार्मिक जीवन में प्रवेश करते हैं, हम ईश्वर के वास्तविक बच्चे बन जाते हैं।